

किस्सा औ' कहानी

□ पूर्वा याज्ञिक

1

कहानियां सुनने का रस-स्वाद बिल्कुल अलग ही होता है। अगर वे बचपन में सुनी गई हों, और किसी प्रवीण कथा-वाचक द्वारा सुनाई गई हों तो उनकी सौंधी-सौंधी खुशबू, खट्टा-मीठा-चटपटा स्वाद सालों बाद उतना ही ताजा और सम्मोहक लगता है, ठीक वैसे ही गुदगुदाता है। दुर्भाग्य यह रहा कि दादा-दादी या नाना-नानी से ऐसे किस्से सुनने का अवसर न मिल पाया। पर पापा ने इस कमी को कभी अखरने नहीं दिया।

याद आता है कि लगभग हर रात फर्श पर बिछे गद्दों पर लेटते ही कहानी की फरमाइश से वे कभी बौखलाते न थे। उनके पास सैकड़ों कहानियों का खजाना था और हरेक कहानी को नई तरह से सुनाना उन्हें बखूबी आता था। जो बात हमें सबसे ज्यादा रिझाती थी वह थी कहानियों के बीच कई बार दोहराई जाने वाली पंक्तियां किसी गीत के स्थाई अन्तरे की तरह होती थीं। वे हमें भी कंठस्थ हो गई थीं और जैसे ही किस्सा उस जगह पहुंचता, जहां वे पंक्तियां दोहरानी होती, हम भी साथ देते।

हमारी पसंदीदा तोते की कहानी में तोता अपने माता-पिता को संदेश भेजा करता था, जिसका मूल गुजराती से मुक्त अनुवाद कर पापा ने हमें यों सुनाया था : “तोता भूखा नहीं, तोता प्यासा नहीं, तोता कच्चे आम खाए, तोता पके आम खाए, तोता मौज करे !” या बकरी की कहानी, कहानी में जब लोग उसे रास्ता

छोड़ने को कहते हैं तो वह तुनक कर कहती, “बकरी मां नहीं, बकरी बहन नहीं कहता है बकरी-बकरी हट। जा नहीं हटती।” इसी कहानी में बकरी मां अपने बच्चों को अकेला छोड़ जब जाती तो उन्हें यह समझा कर जाती कि लौटने पर जब मैं कहूँ, “सरकंडों की झोंपड़ी, मेरी गुड़-चावल की पुताई, प्यारे बच्चो खोल दो मैं मानो रानी आई !” तभी दरवाजा खोलना।

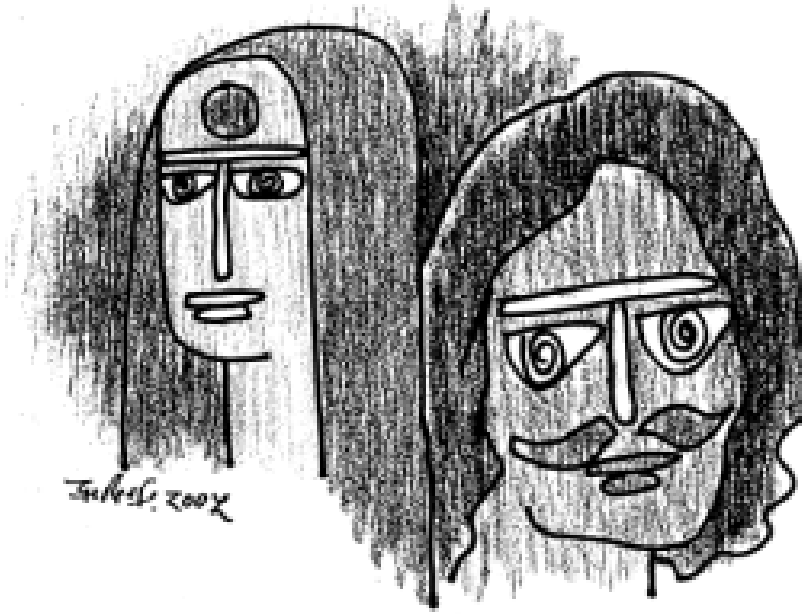
हमारी मॉन्तेसोरियन मां ने इस ‘किस्सागोई’ के क्रम पर कलकत्ता से आने वाली पत्रिका ‘अराउण्ड द चाइल्ड’ में अपने अवलोकन लिखे थे। उन्होंने देखा और लिखा कि उनकी नन्हीं बेटी, मतलब मेरी छोटी बहन को (जो उस समय संभवतः तीनेक साल की ही थी), पूरी कथा सुनने में रस नहीं आता था। उसे हर कहानी का ‘बिंब’ भर चाहिए होता था। “तोता मां-बाप से विदा ले दुनिया देखने उड़ चला। उड़ते-उड़ते, कई जंगल-पहाड़, नदी नाले पार करता, मानसरोवर के पास बसे घने जंगल में पहुंचा। जंगल बड़ा सुंदर था, सैकड़ों फूलदार-फलदार घने वृक्ष लताएं,...।” कहानी आगे बढ़ती उसके पहले मांग होती “अब बंदर वाली।” बंदर और मगरमच्छ की दोस्ती की बात पूरी होते न होते, नई फरमाइश होती “शेर वाली” या “बकरी वाली”, “भालू वाली” या कोई और।

किस्से-कहानियों के इस पिटारे में तमाम कहानियां थीं। कई गीजू भाई द्वारा संकलित गुजराती लोक-कथाएं थीं; जूल वर्न की टूवैटी थाउजेन्ड लोगस अन्डर द सी, के गुजराती अनुवाद जो



‘साहसिकों नी सृष्टि’ शीर्षक से छपी थी; ईदगाह जैसी मुंशी प्रेमचन्द की कहानियां भी थीं।

किस्से सुनाने की उनकी शैली इतनी आकर्षक थी कि हम पूरी तरह कथानक को आत्मसात कर लेते थे। हरेक पात्र की अलग-अलग आवाज, उसकी पीड़ा, उसकी नाराजगी, उसका आल्हाद सब एक दृश्य-नाटक के रूप में मन की आंखों को साफ-साफ दिखता था। शायद यही अनुभव मन में इतने पैठा कि काफी बाद में अनुवाद करते समय मुझे लिखित शब्द का वास्तविक अर्थ भी तब ही समग्रता से समझ आता जब उसे उच्चारित कर, उन भावनाओं को आवाज दे, पढ़ा जाता।



ठीक इसी प्रकार इतने सालों बाद तमाम ऐसी कविताएं भी याद हैं, जो बचपन में सुनीं और सीखीं। इनमें से कई खास बच्चों के लिए कवि-शिक्षक भगवान दास जी की रचनाएं थीं, जिन्हें मां ने स्वर-बद्ध कर दिया था। सरल, सीधी-सादी कविताएं जैसे : “चंपा का फूल, दीदी चंपा का फूल; लाई मैं देखो सीख चंपा का फूल; नहीं है पतली सी चंपा हमारी, प्यारी है उंगली सी चंपा हमारी” या फिर “उड़ती जा, उड़ती जा; गगन की चिड़िया उड़ती जा; हल्के नन्हें पंख तुम्हारे, नीला यह आकाश है; उड़ी चली जा ऊपर उठ जा, मेघ तुम्हारे पास है।” शब्दों व स्वरों का यह एक ऐसा अद्भुत मिश्रण था जिसने हमारे मन पर अमिट छाप छोड़ी। मां ने शिशु कक्षा में हिंदी के अलावा तमाम दूसरी भाषाओं की ध्वनियों, शब्दों से भी परिचित करवाया था। अंग्रेजी, बांग्ला, मराठी, गुजराती, आसामी की छोटी कविताएं व गीत जो तब सुने-सीखे उन्होंने बाद में विभिन्न भाषाओं की संपन्नता को समझने का मौका दिया।

जो सुंदर अनुभव मां-पापा ने हमें दिया ठीक वैसा अनुभव हम शायद अपने बच्चों को नहीं दे पाए। कहानियां -कविताएं सुनाई जरूर, पर पता नहीं उनकी स्मृतियों में हमारी कोशिशों की क्या छाप पड़ी है। पर हमारे प्रयासों में अगर कोई कमी रही होगी तो जाहिर है ठीक वैसा असर होगा भी कैसे। फिलहाल उम्मीद यह है कि

उनके बच्चों के साथ यह कोशिश दोहराने का एक अवसर शायद फिर से मिले।

2

बात लगभग बीसेक साल पुरानी है। उन दिनों राज्य संदर्भ केन्द्र के लिए कुछ अंशकालिक काम किया करती थी। बिटिया छोटी थी, पिता वृद्ध और पति अधिकांश समय यात्राओं में व्यस्त रहते थे। पिता उच्च रक्तचाप के रोगी थे और अचानक अस्वस्थ हो गए। आंशिक पक्षाघात हुआ। जाहिर था कि ऐसे में घर से निकलना असंभव था। बिना किसी काम के समय गुजारना भी कठिन था। उन्हीं दिनों अरविंद भाई (अरविंद गुप्ता) जापान

यात्रा से लौटे थे और वहां तेत्सुको कुरोयानागी की नायाब पुस्तक तोतो चान का अंग्रेजी अनुवाद उनके हाथ लग गया था। अपने जयपुर प्रवास में उन्होंने पुस्तक के विषय में कुछ बताया भी था और पुणे लौट, उसकी एक फोटो प्रति भिजवा दी थी।

रमेश जी (रमेश थानवी, जो उस समय निदेशक, राज्य संदर्भ केन्द्र थे) ने वही फोटा प्रति थमा दी। घर बैठे अनुवाद ही कर डालो। अरविंद भाई ने जो फोटो प्रति भेजी थी उसमें ए-4 आकार के पृष्ठ पर पुस्तक के चार पृष्ठ एक साथ जीरॉक्स किए हुए थे। आंखें तब दुरुस्त रही होंगी, क्योंकि पूरी पुस्तक का अनुवाद उसी फोटो प्रति से किया था।

बहरहाल काम शुरू किया। शुरू करने के पहले, समय सारिणी बनानी पड़ी। सुबह बिटिया को स्कूल भेजने और पापा की जरूरतों का ध्यान रखने के बाद, दो-तीन घंटे का समय मिलता। तब दोपहरी के भोजन से निपटने के बाद दो-एक घंटे और निकल पाते। बिटिया और पापा दोनों ही इस क्रम को कुछ दिन देखते रहे, तब सवाल किए गए किताब किसने लिखी है, किस भाषा में है, किस विषय में है ? तब तक कुछ पृष्ठों का अनुवाद हो चुका था। तमाम सवालों से बचने का एक सीधा उपाय सूझा। उसी शाम पापा के पास बिटिया को बिठा, पहले अध्याय का अनुवाद सुनाना शुरू



किया। घसीटामार अनुवाद था, पहला प्रारूप, सो सुनाते समय जगह-जगह अटकी। जाहिर है कि कई वाक्य बदलने पड़े, उन संशोधनों का तुरंत दर्ज भी कर लिया।

तोत्तो चान की कथा वाचन के दो-तीन सत्र पूरे होते न होते बिटिया और पापा दोनों ही उससे पूरी तरह बंध गए। पुस्तक के मूल पाठ के अनुवाद के बाद जब प्राक्कथन व दूसरे संस्करण के प्राक्कथन तक पहुंची तब यह जाना कि जापान में इस पुस्तक ने तहलका मचा दिया था। हर उम्र के पाठक को उसमें अपने लायक कुछ न कुछ जरूर मिला था। पर यह बाद की बात है। मूल पाठ के अनुवाद के दौरान एक बात जो साफ समझ आती रही वह यह थी कि आठ साल की बिटिया और अस्सी के करीब पहुंचे पापा को यह पुस्तक रुच रही थी। नन्हीं तोत्तो चान के कारनामे सुनने की दोनों में भारी ललक थी। इतना ही नहीं बिटिया को इसमें इतना रस आने लगा कि वह पड़ौस में रहने वाली अपनी दो सहेलियों को (जिनमें एक उससे एक वर्ष बड़ी थी और दूसरी साल भर छोटी) भी बुला लाती। स्कूल से लौटने के बाद बिटिया और उसके नाना दोनों ही अगले पांचेक घंटे बेताबी से गुजारते। बैठक में हुई थोड़ी देरी, कोई फोन कॉल उन्हें सुहाता न था। तो आगे क्या हुआ का सवाल हर सत्र के पहले दागा जाता।

तोत्तो चान का अनुवाद सर्वप्रथम अनौपचारिक में धारावाहिक के रूप में छपा, तब पुस्तकाकार रूप में। इस दौरान किसी ने (संभवतः स्वयं अरविंद भाई ने) टिप्पणी की, कि हिंदी अनुवाद दरअसल अंग्रेजी अनुवाद से बेहतर है। क्योंकि तोत्तो

चान पुस्तकों के अनुवाद के क्रम में मेरा पहला अनुवाद था, इस टिप्पणी से हौसला बंधा। पर इस पर खूब सोचा भी। किसी पुस्तक का अनुवाद 'अच्छा' या 'बेहतर' क्यों हो जाता है और किसी का 'घटिया' क्यों रह जाता है। क्या अनुवादक/रूपान्तरकार की दक्षता मात्र के कारण होता है? सोचने पर लगा कि बात शायद इतनी भर नहीं है। अनुवाद की गुणवत्ता एक हद तक तो मूल पाठ की भाषा-शैली, उसके प्रवाह से निर्धारित होती है। दूसरा पक्ष है दोनों भाषाओं से परिचय। अनुवादक की मूल भाषा और रूपान्तर की भाषा में जितनी गति/पैठ होगी वह निश्चित रूप से भाषान्तर को सुंदर बनाने में सहायक होगी।

पर तोत्तो चान के अनुवाद से एक मोटी बात यह भी सीखी कि लेखन और वाचन का अंतरंग संबंध अनुवाद को निखार सकता है। इस अर्थ में बिटिया और पापा और बिटिया की सखियों ने तोत्तो चान के भाषान्तर में अपना अमूल्य योगदान दिया था। दिन भर का श्रम, हर सांझ जीवंत संशोधन प्रक्रिया से गुजरता था। पढ़ते समय जहां अटकाव आता, फौरन कोई चूक रेखांकित हो जाती। 'इन्स्टैंट फीडबैक' की ऐसी अचूक विधि किसी दूसरे अनुवाद के साथ दोहराई न जा सकी। यद्यपि तेजी ग्रोवर (कवियत्री) के साथ जॉन होल्ट (हाऊ चिल्ड्रन फेल) व जॉर्ज डेनिसन (लाइव्स ऑफ चिल्ड्रन) के अनुवादों को भी पढ़ कर सुधारा गया, पर वह प्रक्रिया समूची पुस्तक के बाद प्रारंभ की थी। सो वह रोमांच जग ही नहीं पाया, जो हर दिन चार-पांच पृष्ठों के अनुवाद के बाद उसकी 'पुष्टि' की प्रक्रिया के दौरान उत्पन्न हुआ था। ♦

